चुप्पियों की पैंजनी

(नवगीत संग्रह)

चुप्पियों की पैंजनी

(नवगीत-सग्रह)

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

लोक प्रकाशन
दिल्ली

मूल्य तीस रुपये

प्रकाशक मनोज कुमार जैन मंत्री, लोक प्रकाशन, 4693, गली उमराव, पहाड़ी धीरज, दिल्ली 6 / मुद्रक पारस प्रिंटर्स नवीन शाहदरा, दिल्ली 32 / आकार डिमाई / पृष्ठ संख्या 92 / प्रथम संस्करण 1988

CHUPPIYON KEE PENJANI (Poems)

by Devendra Sharma Indra

First Eddition 1988 Rs 30 00



समर्पण

श्री० रामेश्वर शुक्ल 'अचल'
को
जिन्होने अपनी बहुविध कृतियो से
छायावादोत्तर-हिन्दी-कविता को
अभिनव-आयाम
दिये।

गीत अचल के

दक्षिणी-वातास की
मरकत तरंगों पर
तैरते से
गंध-मादन पथ
पाटल के
गीत अचल के

श्रांत मरु की
अधर सीपी पर
सांझ के कादम्ब घट से
चाँदनी की
वारुणी छलके

स्वप्न के
कुहरिल निशीथों पर
इन्द्रजाली तूलिकाएँ
आंकती ज्यों
चित्र काजल के

घाटियों के मौन में बजते
झिलमिलाते
जुगनुओं के
रेशमी स्वर
छन्द पायल के

आँख में, श्रुति में
उभरते
धड़कनों की सीढ़ियों से
प्राण में
सीधे उतरते
आप इनको देखिये हलके

गीतानुक्रम

रोशनी की तलाश मे

'चुप्पियो की पैंजनी' शीर्षक अपने नवीनतम गीत सकलन की प्रस्तावना के रूप मे पुन कुछ अपने बारे म कुछ इन गीतो के बारे म और कुछ दोनो के बहाने अपने समकालीन गीतकारो और नवगीत के बारे म अपनी बात कहने के लिए, अपने कविता प्रेमियो के सम्मुख उपस्थित हू। क्या कहू समय नही पा रहा ? गूगेपन की हद तक चुप्पी साध लू, यह भी मुमकिन नही है। कविता और गीत का जन्म भी कदाचित इसी प्रकार की मन स्थिति के भीतर होता है। जब हम चुप रहना चाहते है तभी हम कुछ कहना पडता है और जब कह चुकने के बाद उस पर सोचते हैं तो लगता है जस हमने वह कुछ नही कहा—जिसे हम कहना चाह रहे थे। शायद इसी 'अविवक्षितवाच्य' स्थिति का नाम है कविता या गीत। कविता चुप्पी का ही पर्याय है और जब सन्नाटे के आगन मे उसकी अश्रुत पैंजनिया खनकने लगती हैं तभी ज म होता है गीत या नवगीत का।

काफी लम्बे समय तक मैं भी औरो की देखा देखी प्रयासपूवक गीत को नवगीत से अलगाता रहा हू। किन्तु अब कभी कभी यह भी महसूस करने लगा हू कि ऐसा करना कही एक बौद्धिक—खुजलाहट को शान्त करना मात्र ही तो न था ? क्योकि गीत पुराना हो या नया—होता वह तत्वत गीत ही है। जब भी कुछ सिरजा जाता है तब उसके सजक की भावयित्री एव कारयित्री क्षमताए अपने देश-काल परिवेश से जाने अनजाने जुड जाती हैं। सजनात्मक क्षण के धूप छाह, हवा-पानी, आकाश अवकाश और इद गिद की खामोशी अथवा कोलाहल से कैसे अछूता रहा जा सकता है मैं नही समझ सकता ? रचनाकार जिस समाज म उत्पन्न होकर अपने भीतरी और बाहरी व्यक्तित्व को गढता है, उस व्यक्तित्व पर उस समाज की बहुविध परिस्थितियो का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव पडता ही है।

हम उसके व्यक्तित्व और कृतित्व के मध्य कोई पार्थक्य रखा खींच भी कम सकते हैं ? समाज का एक उत्तरदायी नागरिक होने के नाते जितना वह अपनी परम्परा के प्रति कृतज्ञ होता है उतना ही अपने समसामयिक यथार्थ के प्रति जागरूक, संवेदनशील और कर्त्तव्यनिष्ठ भी। ऐसी स्थिति में, मैं समझता हूँ कि हर प्रबुद्ध रचनाकार की सजना भी उगलिया अपने वक्त की नब्ज को पकड़ने की कोशिश करती हैं।

'नव्यता' और 'पुरातनता' दोनों सापेक्ष शब्द हैं। यह सापेक्षता समय सिद्ध होती है। जिसे आज हम 'पुराना' कहकर नाक भौंह सिकोड़ते हैं कल वह भी 'नया' ही था। अतिनवीनता के दर्प में हम यह भी भूल जाते हैं कि जो कुछ इस क्षण विशेष में हमें 'नया' लग रहा है, आगामी क्षण उसे 'पुराना' करने के लिए तत्पर है। जो नया है उसे पुराना भी होना पडेगा। इस स्थिति में हमें मान लेना चाहिए कि 'नयापन' और 'पुरानापन' एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। हमारे देखते ही देखते पिछले चार दशकों में नवगीतकारों की भी चार पीढ़ियाँ आयीं गयी हो गयीं। नवगीत में इस समय जो नवीनतम पीढ़ी उभर कर आ रही है, क्या वह अपने वरिष्ठ समानधर्माओं को 'पुराने नवगीतकार' और उनकी रचनाओं को 'पुराना नवगीत' नहीं कहती ? ऐसी परिस्थितियों में 'पूर्ण नवगीत' 'अर्द्ध नवगीत' 'तथाकथित नवगीत' जैनुइन नवगीत' और फेक नवगीत' जसे शब्द अपने आप में कितने सार्थक हैं यह एक विचारणीय विषय है।

इस वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक और तकनीकी युग में जब हम 'विश्ववाद', 'मानवतावाद' और लोकतान्त्रिक समाजवाद' जैसे प्रत्ययों पर आस्था करते हों तब कोई यह कहे कि ' मैं ब्राह्मण हूँ अतः समाज में सर्वोच्च हूँ। ब्राह्मणों में भी पूरा पक्का बीस बिसवों का कान्यकुब्ज अतः गौड़ सनाढ्य गौतम सारस्वत, सरयूपारीण और शाकद्वीपी आदि ब्राह्मणों से भी श्रेष्ठ हूँ ' तो ऐसा कहने वाले व्यक्ति पर आपको हँसी आयेगी अथवा रोना ? जिस प्रकार समाज में ऐसे लोगों को अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने वाला कहा जाता है उसी प्रकार साहित्य में स्वयं को 'सविशेष और दूसरों को निर्विशेष' कहने का कोई अर्थ नहीं होता। आवश्यकता आज इस बात की है कि हम इस प्रकार की अवांछित दीवारों और दायरों में सिमिट सिकुडकर न बैठें। एक दूसरे को सहृदयतापूर्वक सुनें समझें और बद्धमूल रूढ़ियों में संशोधन करें। 'संशोधन पुनरावृत्ति की अपेक्षा कहीं बडी चीज़ होता है, साहित्य और कविता के क्षेत्र में। संशोधन के सोपान पर उत्तरोत्तर आरोहण करके ही मौलिकता के ऊर्ध्वतम शिखर पर पहुचा जा सकता है।

साहित्य, कविता, गीत या नवगीत के सन्दर्भ में जिस 'मौलिकता' की बात की जाती है वह वस्तुतः उतनी कथ्य-सापेक्ष नहीं होती जितनी कि शिल्पसापेक्ष।

नितान्त मौलिक तो इस जगत् म कुछ है भी नही। जो कुछ है सो—पचमहाभूतो का सघात ही है और इस सघात को व्यक्त करने वाली भाषा भी अमिथ नही है। मौलिक तो केवल 'ब्रह्म' ही होता है और सब उसका मूल्लवन और प्रसुमन मात्र है। 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की भाति कवि भी उसे जागतिक और तदतिरिक्त सत्य को अपनी-अपनी कल्पनानुसार भाषिक आयाम प्रदान करता रहता है। 'गाथा सप्त शती' का मूल सत्य बिहारी सतसई' तक आते आते बहुत कुछ बदल चुका होता है। तथापि उसे सवथा स्वतन्त्र कभी नही माना जा सकता। वाल्मीकीय और कालिदासीय राम का चरित्र तुलसी तथा केशव की परम्परा से आगे बढ़ते हुए मैथिली शरण, 'निराला और नरेश मेहता के यहा तक पहुचते-पहुचते आतर परिवतन की प्रक्रिया स गुजर चुका होता है तथापि तत्तद् कवियो का प्रातिभस्पश पाकर पूवकथन भी अभूनपूव होता जाता है। यह अभूतपूवता ही मौलिकता का आभास कराती है। पुराण मे नवोन्मेष का छायाभास ही कविता है, गीत है और नवगीत है।

उन पक्तियो के वक्तव्य को केवल ऊपर की सतह से देखन और छूने वाले व्यक्तियो को सम्भवत यह सब पिष्ट पेषण ही लगेगा। मेरा कहना है कि आप दृष्टपूव को उन्मेषशालिनी कल्पना से देखने का प्रयास कीजिए तो वह आपका प्रतिक्षण परिवर्तित होता दिखायी देगा। कवि या गीतकार की सफलता भी इसी मे निहित है कि वह अपने भावक सामाजिक प्रमाता अथवा पाठक के भीतर भी वैसी ही नवोन्मेषिणी क्षमता का भावित अथवा उद्दीपित कर सके। श्रेष्ठ कलाकृतियो के भीतर यह पारदशकता स्वभावत ही रहती है जो अपन ऐन्द्रिय मनिकष से द्रष्टा को भी पारदर्शी बना देती है, अथवा कहिये कि कला के शीशमहल म खडा होकर उसका भावक अपनी भावना के अनुसार अपन 'भावातीत अनुभव' तक पहुचा मे सफल हो पाता है। कला के भीतर ऐसी पारदशकता यो ही उत्पन्न नही हो जाती। ऐसा करने के लिए कलाकार का आत्मा वेषण और आत्म के माध्यम स लोका वेषण और अन्तत इस उभयनिष्ठ सनिधि से अलौकिक आनन्द के बिन्दु तक पहुचना होता है। सजना की यह लोकोत्तरता लोकविरोधी नही होती। चित्त की द्रुति, आत्मविस्तृति, आनन्दानुभूति, रसानुभूति और व्यष्टि समष्टि की एकतानता ये सभी स्थितिया परस्पर विरोधिनी न होकर पर्याय रूप से एक ही हैं। 'एक' से 'महा एक' तक जानेवाली यह रसवन्ती यात्रा ही कविता का अभिप्रेत है। इस रसवन्ती भाव यात्रा को हर कवि अपनी त्रिकालसापेक्ष सीमा से बधकर तय करता है और दिक्कालनिरपेक्ष मुक्ति की दशा म पहुचकर 'रसो वै स' की अखण्डानन्दमयी अनुभूति करता है।

भारतीय आचार्यों ने 'शब्दाथ' को ही काव्य के रूप मे मान्यता दी है, जो बहुत हद तक सही है, किन्तु जब वे 'शब्दाथ को काव्य सजक मानत है तब उसके

'भावार्थ' पर भी समान रूप से बल देते हैं। भावार्थ के अभाव में शब्द निरा पाषाण पिण्ड होता है। जब कोई अनगढ़ पत्थर निरन्तर धारा के प्रवाह में आकर सैकड़ों मील की लम्बी यात्रा पूरी कर लेता है तब उसका नुकीला खुरदुरापन स्वयं ही एक सुचिक्कण श्लक्ष्णता में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई अभिधेय शब्द भावों की भागीरथी में पड़कर एक नया आकार ग्रहण कर लेता है तब उस शब्द में एक विशिष्ट चित्रमयता, रागात्मकता, रूप रस स्पर्शजन्य गुणात्मकता का समावेश हो उठता है। उसकी अभिधेयता उत्तरोत्तर लाक्षणिक और व्यंजक होती चली जाती है। साहित्य अथवा कविता के नाम पर आज जो अधिकांश शब्द क्रीड़ा देखने को मिलती है वह भावनात्मक स्पर्श से वंचित प्रतीत होती है। अपनी इस वंचना के फलस्वरूप न तो वह अपने पाठकों और श्रोताओं के मन को छू पाती है और न ही उसके भीतर कोई भावसंहति उत्पन्न कर पाती है। प्रतिदिन कम से-कम एक संग्रह तो छपता ही है किन्तु क्या कारण है कि यथावत् प्रकाशित ये तीन-सौ साठ संग्रह 'मेघदूत' 'मानस' अथवा 'राम की शक्ति पूजा' के समकक्ष नहीं सिद्ध हो पाते? इसका सीधा सादा उत्तर यही है कि इन कृतियों के कर्ताओं ने पहले सम्प्रेष्य सत्य को अपने भीतर भावित किया था और तत्पश्चात् उसे भावात्मक व्याकृति दी थी। हममें इतना धैर्य कहाँ है कि हम भावयित्री और कारयित्री क्षमताओं के बीच की रसयात्रा में अपने जीवन और शब्दों को ढाल सकें अथवा तदनुरूप ढाल सकें जिससे आज की कविता या गीत ऊपर ऊपर से सारी शर्तों को निभाने के बावजूद अपने आभ्यन्तरीण स्तर पर भी कविता या गीत सिद्ध हो सके। आज का कवि जितना आयास अपनी शब्दक्रीड़ा को दूसरों के द्वारा कविता मान लिये जाने की और तत्पश्चात् उससे विविध प्रकार का लाभार्जन करने की दिशा में करता है, उसका दशमांश भी अपनी कविता पर नहीं करना चाहता। इसीलिए आज की कविता सिर्फ आज की कविता होकर रह जाती है। कालजयी नहीं बन पाती है वह।

मैंने अनेक व्यक्तियों को यह कहते सुना है कि यदि अंगूर की बेल की जड़ का रक्ताभिषेक किया जाता है तो बेल पर आने वाले अंगूर भी अधिक मधुर सुस्वादु और आरक्त होते हैं। मैंने जब जब यह बात सुनी है तब तब इसके लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को ही काम का माना है अर्थात् अंगूर की खेती के लिए खून पसीना एक करना पड़ता है तभी फसल अच्छी आती है। यह कथन यों तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर लागू किया जा सकता है परन्तु कविता पर विशेष रूप से चस्पा किया जा सकता है। अच्छी कविता बनाने के लिए कवि पहले स्वयं को मिटाता है। यदि हमने खुद को तनिक भी नहीं मिटाया तो उसके अनुपात से हमारी कविता मिटती चली जाती है। अपने समकालीनों में 'निराला' जी ने स्वयं को सबसे अधिक मिटाया था अतः उनकी कविता अपेक्षाकृत अधिक कालविजयिनी सिद्ध हुई,

'आत्मध्यजक' होन के लिए 'आत्मभजक' पहले बनाना पडता है। 'निराला' न इस तथ्य को पहचाना था। 'निराला' के परवर्ती काव्य साधको न या तो आत्म-निर्माण की दिशा म अपनी क्षमताओ का प्रयोग किया था या फिर वे ऊपरी-ऊपरी सतह के 'आत्मभजक' होकर रह गय। 'जर्रे' म कोह' और 'कतरे म समन्दर' पदा करने का गैबी इल्हाम भले ही हम एक दार्शनिक और आध्यात्मिक ऊहापोह नजर आय किन्तु अच्छी कविता लिखने के लिए भी कुछ एसी ही मशक्कत करनी पडती है जो अब धीरे धीरे साहित्य मे स लुप्त होती जा रही है। सुविधाओ के आग-पीछे दौडकर हम आरामदेह सरजाम की जुगाड तो करत रह किन्तु उस सबकी कीमत चुकानी पडी है साहित्य को कविता और गीत का अथवा अन्यान्य ललित कलाओ को। साहित्य की लगाम हमन स्वय ही सत्ता क हाथो म थमा दी हैं। बदले म हमम एक अन्द छोटी सी कुर्सी पाकर स तोष कर लिया है। यह सही है कि वह कुर्सी लकडी की बनी हुई होती है। किन्तु वह लकडी ही तो समग्र वन' नही होती। सुविधाजीवी नागरता स ऊबे हुए कवि के सौन्दर्य वेधी मन को जैसी आरण्यक विश्रान्ति चाहिए वह उन कुर्सियो के पास नही होती। मैंने ऊपर जिस आत्म भजकता की बात कही है वस्तुत साहित्य म वह आत्मोपलब्धि का आद्य सोपान है।

साहित्य का कथ्य युगसापक्ष होता है। नव गीत से भी यही अपक्षा की जाती है कि वह अपन युगीन सत्य को अधिकाधिक कलात्मक, सौ दययुक्त किन्तु सहज शैली म प्रस्तुत करे। परिवतन की प्रक्रिया मे एक युग का सत्य दूसरे युग के सत्य के साथ मेल खाय, यह जरूरी नही है। कभी कभी तो दो युगो के सत्य एक-दूसरे से इतनी दूर जा पडते हैं कि उनमे विरोध जैसी स्थिति प्रतीत होने लगती है। ऐसी दशा मे गीतकार के विवेक स यह अपेक्षा करना असगत नही होगा कि वह सवप्रथम अपन समय की सचाइयो का शखधर हो तत्पश्चात विगत युग के मूल्यो का रक्षक और अनागत का शुभचितक। जयदेव विद्यापति, मीरा 'निराला' और महादेवी वर्मा के गीतो मे इस युगानुसारी परिवत्तन का भलीभाति देखा जा सकता है। मैं यहा सम्पूण गीत साहित्य की चर्चा करने की अपेक्षा स्वय को हिन्दी की खडी बोली मे लिखे उन गीतो तक ही सीमित रखना चाहूगा, जो आधुनिक भारतीय परिवेश के निकटतम सहयात्री रहे हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ के दो दशको का गीत बहुत कुछ बहिर्निष्ठ था किन्तु उससे आगे के डेढ दो दशको म वह अन्तर्निष्ठ होता गया। बाह्यजगत की घटित वास्तविकताओ का साक्षात्कार करन के लिए 'प्रसाद', 'निराला', पन्त और महादेवी ने अपनी निजी दृष्टि का प्रयोग अधिक किया। इसके विपरीत द्विवेदीयुगीन गीतकार यथार्थ के शीलद्रष्टा होने के अतिरिक्त नतिक स्तर पर उपदेष्टा भी थे। ऐसा करना तद्‌तद युगो की आवश्यकता के अनुरूप था। छायावादोत्तर गीत नवगीत के रूप मे परिवर्तित होने स पूव की

त्रिमुखी पीडा' का शिकार रहा। एक ओर उसमे पलायनधर्मी अतिवयक्तिकता और क्षयिष्णु रोमानियत थी तो दूसरी ओर प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित नितान्त तथ्यपरकता और नारेबाजी ता तीसरी ओर प्रयोगवाद और नयी कविता की देखा देखी उसने भी बौद्धिकता का मुखौटा धारण करने का प्रयास किया। इस त्रिमुखी पीडा ने गीत के सहज स्वाभाविक रूप को विकसित होने से रोक दिया। आज जिसे 'नवगीत' की सज्ञा से अभिहित किया जाता है, वह इन तीनो अतिवादो से बहुत कुछ मुक्त हो चुका है। युग सापेक्षता के विषय पर अपनी कलामयी शालीनता को बनाये रखते हुए, जितना खरा 'नवगीत' उतर सका उतना पूववर्ती गीत नही—यह एक वस्तुस्थिति है। स्वतत्रता के बाद के समाज मे अपने अनेकविध विघटन के बावजूद एक 'नयी मानवता' और उसकी 'अभिनव मूल्य चेतना' भी देखने मे आयी जिसका सूत्रपात 'निराला' जी के गीतो मे पहले ही हो चुका था। प्रारम्भ मे लोग नये गीत अथवा 'नवगीत' को निराला' से जोडते हुए हिचकिचाते थे किन्तु अब इसे एक अपरिहार्य ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे प्राय सभी मानने लगे हैं।

यद्यपि मैंने प्रारम्भ मे यह कहा है कि नवगीत एक काल सापेक्ष शब्द न होकर नए तथ्यसूचक और अतिव्याप्ति (गुण अथवा दोषपरक) से मुक्त काव्यरूप है किन्तु व्यापक प्रचलन मे आ जाने के कारण यह सज्ञा सामान्योन्मुख से विशेषोन्मुख होती चली गयी। आज नवगीत की परिधि मे हिन्दी के उन्ही गीतो को लिया जाता है जो कि इधर के चालीस वर्षों के आयाम मे लिखे गये हैं और जो छायावादी रहस्यवादी तथा प्रगतिवादी प्रयोगवादी गीतो से भिन्न प्रकार के हैं और जिनमे पूववर्त्ती गीतो के विधेयात्मक गुणो का समाहार कर लिया गया है। यह भी एक सचाई है कि इस नये गीत अथवा नवगीत' को कही से आयातित नही किया गया। यह सोलहो आने इण्डोजिनिस प्रोडक्ट है। नगर अथवा महानगरो की जिन जीवन स्थितियो को इस गीत ने स्वायत्त किया है उन्हे भी पूर्णत भारतीय सदर्भों मे। आज जो अकेलापन, अजनबियत व्यथताबोध, हताशा, अस्मिता की खोज, आतक और मृत्युजन्य अवसाद इस नये गीत मे लक्षित होता है वह सात्र, कामू या काफ्का को पढकर नही आया है। नगरीय यथार्थ के चितेरे नवगीतकारो को अस्तित्ववादी जीवन दर्शन की कितनी गहन और प्रामाणिक जानकारी प्राप्त है मैं नही कह सकता। असली कविता की रचना तत्त्व विज्ञान अथवा दर्शनशास्त्र के ग्रन्थो को घोखने के बाद नही, जीवन और जगत के यथार्थ का द्रष्टा बनकर ही की जा सकती है। आज जो व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे गीत को स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं उनमे से शायद ही कोई ऐसा हो जो स्वय को तटस्थ और पलायनवादी कहता हो। जीवन और जगत के प्रति गीत का जुडाव पूरी शिद्दत के साथ देखा जा सकता है। चाहे उसकी रचना किसी प्रतिबद्ध जनवादी

गीतकार ने की हो अथवा किसी विजनवादी गीतकार ने ।

जहाँ तक नवगीत के मिजाज का प्रश्न है वह बहुत कुछ अपने रचनाकार के स्वभाव के द्वारा भी प्रभावित और परिचालित होता है। मैं पहले भी अनेक प्रसगो में इस तथ्य की ओर सकेत करता रहा हूँ कि जिस प्रकार एक सही, परिपूर्ण और सामाजिक दृष्टि से उपादेय व्यक्ति के लिए 'आक्रामक' होने की अपेक्षा 'सहिष्णु' और 'उदात्त' होना अधिक वरण्य होता है, उसी प्रकार वास्तविक और मुकम्मिल नवगीत भी अपने कथ्य में आक्रामक नहीं होता। वह व्यक्ति के भीतर सहिष्णुता और उदात्तता के संस्कार ही उत्पन्न करता है। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि 'प्रतिभा' स्वभावतः ही 'उद्धत' होती है—मुझे इसे मानते हुए सकोच होता है। सहिष्णुता गीत की 'प्रकृति' है, उदात्तता उसकी 'संस्कृति' है और आक्रामकता को मैं गीत और नवगीत की 'विकृति' कहना पसन्द करूँगा। प्रकृति, विकृति और संस्कृति को हम 'थीसिस', 'एण्टीथीसिस और सिंथीसिस' भी कह सकते हैं। आक्रमण करने वाले से वह व्यक्ति अवश्य ही बड़ा होता है जो कि उस आक्रमण को अपनी पसलियों पर झेलता है। इसलिए यह मानना कि 'नवगीत' का मिजाज सहिष्णुतापरक होता है, उचित ही है।

इधर पिछले कई वर्षों से पत्र पत्रिकाओं अथवा प्रकाशित सकलनों में जो नवगीत मेरे देखने में आये हैं उन्हें पढ़कर खास तरह की आशका होने लगती है। कुछ लोग, जो कि वर्षों से नवगीत रचना के क्षेत्र में सक्रिय हैं और जो इस क्षेत्र में खासी प्रतिष्ठा भी अर्जित कर चुके हैं अब कोई नयी जमीन तोड़ते नजर नहीं आ रहे। अब उनमें दुहराव अथवा ठहराव की गन्ध आने लगी है। नये गीत को इस खतरे से बचाने की जरूरत है। इसी प्रकार कुछ ऐसे गीत भी देखने में आये हैं जो अपनी चित्र विचित्र बिम्ब सम्पदा के कारण ऊपर-ऊपर से तो पर्याप्त आकर्षक प्रतीत होते हैं किन्तु जब उन्हें अर्थगौरव अथवा वैचारिकता की कसौटी पर कसा जाता है तो वे उस व्यक्ति की भाँति प्रतीत होते हैं, जो देखने में सर्वांगसुन्दर होने के बावजूद मानसिक रूप से अविकसित रह जाता है। अच्छी और प्रभावी रचना तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि उसमें सुविचारित तथ्य' का अभाव हो। इसके विपरीत आज के अधिकतर गीतों में 'अविचारितरम्य' की अतिशयता ही झलकती है। यों, यह गीत की ही नहीं साहित्यमात्र की 'ट्रेजेडी' होती जा रही है। कविता में केवल 'रमणीयता' नहीं, 'रमणीयार्थता' ही प्रतिपाद्य हुआ करती है। गीत भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है। गीत को कपूर की गन्ध, तितलियों के पर, सपनों का सगीत और पलाश पत्रों पर झिलमिलाती शबनम की बूँदों का बिम्ब बनाकर कहीं हम उसे जन-जीवन से काट तो नहीं रहे हैं? मेरे कथन का आशय इतना ही है कि नवगीत में उन्हीं बिम्बों का आधान करना प्रासंगिक होगा

जा कि व्यापक जन जीवन के यथार्थ से जूझने में समर्थ हों। अ यथा दूरारूढ़ बिम्ब योजना के द्वारा तो हम पुन एक नये छायावाद को ही ज म दे बैठेंगे।

नये गीत की भाषा पारम्परिक गीतों की भाषा से अवश्य ही कुछ भि न होती है। छायावाद शैली में लिखे गये गीतों की भाषा निश्चय ही सामा य जन की भाषा से पृथक थी। उनमें अधिकतर संस्कृत के समासबहुल तत्सम श दों का प्रयोग किया जाता था। गीतिका लहर और 'पल्लव' के अनेक गीत यहा उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसके विपरीत भाषा के सरलीकरण के नाम पर परवर्ती गीतकारों ने जो प्रयोग किये वे या तो गुलशननदायी अ दाजों तक जा भटके या गली के नुक्कड़ों और चौराहों पर दिये जाने वाले भाषणों के समरूप होकर रह गये। जिस सपाटबयानी का आरोप 'नयी कविता' पर लगाया जाता है उससे बहुतेरे नवगीत भी मुक्त नहीं हैं। वास्तव में काव्यगत सरलता और जटिलता के भी अपने अपने स्तर हुआ करते हैं। सर्वाधिक सरल और सुबोध भाषा तो बच्चों को सुनायी जाने वाली लोरियों की होती है। क्या नवगीत को लोरियों वाली भाषा में लिखा जाना चाहिए? वे गीत जो सीधे सीधे जनपदीय और आचलिक कथ्य को लेकर चलते हैं प्राय अपने यहा की क्षेत्रीय बोली के भार से दब जाते हैं। मैला आचल' और परती परिकथा' जैसे श्रेष्ठ उप यासों में भी आचलिक शब्दावली की अतिशयता सामा य पाठकों के लिए रसभंग करने वाली सिद्ध हुई थी। इसी प्रकार नवगीत भी जब भाषिक ताजगी के बहाने आचलिक प्रयोगों को साध्य' मान लेता है तब हि दी के सामा य पाठक के लिए वह शब्दावली भी अटपटी बन जाती है। इस स्थिति में उचित यह होता है कि हम गीत को अनधिक-परिनिष्ठित और अनधिक चलताऊ भाषा में ही लिखें। कभी कभी यह भी होता है कि गीत में कोई शब्द अपरिवर्तनक्षम रूप से आ बैठता है तब उससे छेड़छाड़ भी नहीं की जा सकती। मैंने गीतों में जहा अपेक्षाकृत सरल सुबोध शब्दों का प्रयोग किया है वहा ऐसे भी गीत लिखे हैं जो अपने गम्भीर कथ्य के कारण गम्भीर भाषा में ही प्रस्तुत किये जा सकते थे। जब गीतकार अपनी भाषा को सम्प्रेषणीय बनाने की नीयत से उसमें सहजता, सरलता, सरसता और लोच लाने का प्रयास करता है तो वह अपने श्रोताओं अथवा पाठकों से भी यह अपेक्षा कर सकता है कि वे भी उसके गीत की भाषा को उसकी सम्पूर्ण अर्थगर्भिता में पकड़ने का प्रयास करें। केवल बेला और 'कुकुरमुत्ता' के पाठकों से तुलसीदास और राम की शक्तिपूजा को समझने की अपेक्षा रखना कहा तक अनुचित है? 'हरिऔध' जी ने प्रियप्रवास भी लिखा था और 'चुभते चौपदे' भी इसी प्रकार नवगीत में भी भि न भि न प्रकार के भाषिक प्रयोग किये जा रहे हैं। मैं यहा अपनी बात नहीं करता। रमाकान्त मालवीय के महदी और महावर' तथा 'सुबह रक्तपलाश की नामक दोनों सकलनों के गीतों की भाषा एक जैसी नहीं है। अविराम चल मधुव ती' के गीतों की भाषा

शैली की तुलना 'झुलसा है छायानट धूप में' के गीतों की भाषा शैली से नहीं की जा सकती, जबकि दोनों शैलियों के प्रयोक्ता एक ही हैं—श्री वीरेन्द्र मिश्र। फिर यदि सभी नव गीतकारों की भाषा, छन्द योजना, बिम्ब विधान और कथ्य सम्प्रेषणाएं एक जैसी हो जायेंगी तब नवगीत एक ही किस्म के साचे में ढली हुई मशीनरी से अधिक नहीं रह जायगा। हर फूल का रंग, रंगत और महक अलग-अलग किस्म की होती है। इसी प्रकार एक गीतकार भाषा के स्तर पर दूसरे से भिन्न ही होगा। गीत की भाषा में व्यंजकता लाने के लिए कभी तत्सम तो कभी ठेठ तद्भव या देशज शब्दों का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। इसी प्रकार यह व्यंग्य कभी कभी अटपट तुकान्तों के द्वारा भी किया जाता है। ऐसी दशा में 'चोकिये' की तुक 'झोंकिये' या 'छाकिये' से ही मिलायी जायगी न कि 'आइये' या 'डोलिये' से? इन पंक्तियों के लेखक के अतिरिक्त ऐसे प्रयोग कुछ अन्य जागरूक गीतकारों में भी मिल जाते हैं।

नवगीत की अन्तर्वस्तु और उसके बहिर्विन्यास से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों को छूने के साथ ही साथ मैं इतना निवेदन अवश्य करूंगा कि उसने वर्तमान जीवन के गद्यात्मक कोलाहल को भी एक द्वन्द्व और नवीन रागात्मकता प्रदान की है। कल तक जो यह कहते हुए नहीं थकते थे कि आधुनिक जिन्दगी की लय ही टूट गयी है, कविता में संगीत की फिर से कैसे प्रतिष्ठा हो सकती है वे आज कदाचित अपने पूर्वाग्रहों को थोड़ी सी ढील देना चाहें। विगत चार दशकों में छन्दरहित और लय-शून्य नयी कविता के समानान्तर नया गीत कदम से कदम मिलाकर अपने लक्ष्य की दिशा में गतिशील होता रहा है। इधर जो गजल कहने की परम्परा हिन्दी के गीतकारों में पनपी है उसने भी खोयी हुई लय और टूटे हुए छन्द को जोड़ने में कम उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया है। शोर को संगीत में रूपान्तरित करने का उनका यह प्रयास मरुप्रदीप की सैकतराशि में डूबी हुई अलक्षित सरस्वती की रसवती धारा को खोजने जैसा एक सांस्कृतिक उद्यम ही कहा जायेगा।

सम्भव है कि नवगीत के सन्दर्भ में मैंने अपने जो 'आब्जर्वेशंस' दिये हैं उनसे मेरे अपने गीत ही मेल न खाते हों। यह भी सम्भव है कि मैंने जिन विचार-बिन्दुओं को यहां उठाया है उनसे दूसरे गीतकारों के विचार न मिल पाये और यह भी सम्भव है कि मेरे इन विचारों में ही कहीं कोई अन्तर्विरोध हो किन्तु न तो मैं अपने इन गीतों को नकार सकता हूं और न ही उन अपेक्षाओं को वापस ले सकता हूं—जिन्हें मैंने नवगीत के आइने में बिम्बित होते देखना चाहा है। मुमकिन है कि मैं मुन्दी रोशनी की तलाश में अंधेरों से जा उलझा होऊं किन्तु मुझे विश्वास है कि जो लोग इस विधा को थोड़ा सा भी सार्थक और प्रासंगिक मानते हैं वे ही आने वाले कल में नवगीतपरक चिन्तन के नये आयामों का उद्घाटन

करेंगे। हम या हमारी पीढ़ी के गीतकार जो कुछ कर सकते थ, कर चुके। अब जो एक नयी पीढ़ी इस दिशा म अग्रसर हो रही है वही शायद गीत को एक अभिनव अथवत्ता प्रदान कर।

—देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'
वरिष्ठ प्राध्यापक हिन्दी विभाग
श्यामलाल कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय)
शाहदरा, दिल्ली-110032

दिनांक 1 3 1988

उदासीन प्रहरी

जारज सन्तानें हम चुप्पी की
वाणी के आप सगे बेटे है।

अपना क्या
साधारण चाकर है
हम गँवई पोखर है
और आप गहरे रत्नाकर है
हम अनाम अनिकेतन
आप मीर, गालिब है, गेटे है।

पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तक
आकाशी चर्चे है आप के
आप शुभ मुहूर्तो के मगलाचरण है
विष्कभक है, हम तो पाप के
फूलो पर नीद नही आयी तो
झाड पर करीलो के लेटे है।

हम तो दरवाजो के उदासीन प्रहरी है
आदेशो के इगित पर चले
मत्रणागृहो मे तो आप ही विधायक बन
करते है फैसले
हम कृपा-कृपाणो से घायल है
घावो पर सान्त्वना लपेटे है।

युग-परिवर्त्तनकारी ग्रन्थो के
आप लिख रहे आमुख
साँस-साँस अपनी तो पथरायी
ढोते दुनिया के दुख
जो सागर-से जेठे
आँसू-मे हेटे हैं।

(20-10 82)

सुन रे मन

सुन रे मन
एकाकी यायावर
भीडो का हमसफर नही है।

काम वह न आ पाया
काम यह न आयेगा
वक्त की कसौटी पर खोटा ही निकलेगा
जिसे आजमायेगा
क्या तू ने पाया है
अब तक इन मित्रो से
रगहीन फटे हुए
इन धुधले चित्रो से
कब तलक सजायेगा
महफिल मे गिरती दीवारो को ?

तू खुद मे
अद्वितीय बनकर रह
औरो का वशधर नही है।

ये सब पटबिजने है
अँधियारी रातो के
ये न मच के नायक, रस्से हैं, खूटे है,
तम्बुओ कनातो के

ईर्ष्या की लपटो से
भीतर तक झुलसे ये
आग के समुदर पर
कागज के पुल-से ये
कब तलक बजायेगा
सन्नाटे मे इन इकतारो को

तू तो है
सूरज का हस्ताक्षर
ढलते दिन का प्रहर नही है।

ये जो है शब्द कृपण
क्यो होगे अथप्रवण
निश्चित है, यदि तू इनको कवच बनायेगा
हारेगा जीवन रण
युद्ध मे अकेला लड
होकर भी नि साधन
कर अपने भीतर तू
शक्ति का समाराधन
कब तलक बुलायेगा
कुहरे मे टूटते किनारो को ?

भँवरो मे
तू फँसा हुआ है
फूलो की नाव पर नही है।

(6 11-82)

दूब की पुतलियों मे

हम कहाँ कहाँ नही गये
पग-पग पर साथ रहा डर।

मिली नही कोई बस्ती, कोई गाँव
जहा पर न ठिठके ये बजारे पाव
रेतीले टीलो के भूरे फैलावो म
रची रही प्राणो पर कस्तूरी छाँव

साझ ढले किरणो-से
लौटे हिरने
पवत, घाटी छलाग कर।

हर तरफ बिछे दीखे रिश्तो के जाल
जहर बुझी लहरो के गहराते ताल
दूब की पुतलियो म ओस की नदी प्यासी
गुर्राते शेर, बाघ, चीतो- सा काल

सन्नाटा वीणा-सा
बजता अथवा
कानो मे वधिको का स्वर।

रेशमी दिशाओ की डोरी की तान
धनुष बना दुपहर का क्षुब्ध आसमान
धरती पर अग्निमुखी तीरो को छोड रहा
ठूँठो-से अटे खेत शव पटे मसान

एक चील सी चुप्पी
मँडराती है
फैलाकर अधघुलसे पर।

(12-11 82)

झरे कही मेह

घिरे कही
तिरे कही मेह
भरे कही
झरे कही मेह ।

फूलो के अँग-अँग मे
आग लगी है
पातो के होठो पर
प्यास जगी है

धू धू कर
जलती है
चन्दन की देह ।

पिउ पिउ रटता पल-पल
मन पपीहरा
पिंजरे की मैना का
स्वर भरा-भरा

सावन मे
एक हुए
छोह और नेह ।

कोयल री

कोयल री,
तुझको तो गाना ही होगा
पिजरे का मोल तो
चुकाना ही होगा।

माना
तू बिछुडी है
नीड से
तनहा होकर भी तू
जुडी हुई
लाखो की भीड से

ये सब तेरे स्वर के प्यासे है
बदली बिन सूखे चौमासे है

कोयल री
इस उखडी मजलिस मे
पतझर मे रग तो
जमाना ही होगा।

अगारे
खिलते,
हर शाख पर
जामुनी अमावस का
पहरा है
उजियारे पाख पर
हिरनो के इस छलते पनघट पर
किरनो के उस जलते मरघट पर

कोयल री

इस उजड़ी महफ़िल में
फागुन का फर्ज तो
निभाना ही होगा।

तेरे
सारे सगी
गा चुके
पर्दे के पीछे वे
गा-गाकर
चुपके से जा चुके

खिल कर सब फूल बिखर जाते हैं
लोग बहुत जल्द भूल जाते हैं

कोयल री
क्यों उदास बैठी तू
मौसम के साथ सुर
मिलाना ही होगा।

(14 4 82)

माटी के पुतले

छोटा कह कर इतनी मत करो उपेक्षा
काम हमीं आये कल क्या पता?

माना यह
आपकी जमात मे
हम कहीं नहीं हैं
श्रेय यहां
मिलता जिस लब्धि को
हम वहीं नहीं हैं

माटी के साधारण पुतले हैं तो क्या
हम से हो जाये कुछ भी खता।

इस-से उस
चोटी पर सिद्धि की
आप जब चढ़े है
आपके
प्रशस्तिपत्र मच से
हमीं ने पढ़े है

बदले मे की है कब न्यूनतम अपेक्षा
शायद हम है शापित-देवता।

सपना तो
देखो, पर सत्य से
आंखे मत मीचो
रेत पर
उगे हुए खजूर को
दूध से न सींचो

बहुत अधिक रगडो मत बर्फ की शिला पर
जल न उठे यह चन्दन की लता।

(14 11 82)

धूप खडी है

कुहर की चूनर ओढे
खिडकी पर धूप खडी है।

हौले से छू गयी हवा
किरनो की हिली अलगनी
हल्दी के गोटे वाली
चादर-सी उडी रोशनी

जितनी ठिगनी खुशिया हैं
उतनी ही व्यथा बडी है।

काल के अछोर जाल मे
क्षण-जैसी मछलियाँ फँसी
गधो के भुजपाश मे
रगो की तितलियाँ फँसी

तारो के हाथ से गिरी
शबनम की गुँथी लडी है।

चुप्पी की गोद मे उतर
उठा एक तुतलाता स्वर
छन्दों पर तैरता हुआ
गीत बुन रहा ओठो पर

शब्दो की मूक तर्जनी
अर्थों ने फिर पकडी है।

(15-11-82)

कल तक गीत मैं था समय का

मेरी शवयात्रा के हमसफर रकीवो
आँखें भर-भर कर या मत मुझे निहारो ।

नामुमकिन लौटना यहाँ से
छोडकर तुम्हे मैं इस पार चला आया
दूर-दूर तक यहाँ न कोई
लहराता जीवन का बदरीला साया

सिफ इस मरुस्थल मे बजता सन्नाटा
और मत लुभाओ उस पार की बहारो ।

कल तक मैं गीत था समय का
आज हुआ हूँ गुजरे वक्त की कहानी
मुट्ठी भर राख जो बची है
रख लेना समझ इसे आखिरी निशानी

मैं अगली पीढी के कठ मे उगूगा
शोक सभाओ मे मत आरती उतारो ।

क्यो इतना अरथी पर रोते
अगारे भी थे तुमने बरसाये
जीते-जी मौन ही रहे तो
श्रद्धा के फूल व्यथ आज क्या चढाये
मेरे जो शब्द-बिम्ब रह गये अधूरे
मत उनके अर्थों को इस तरह उघारो ।

सवनाम आज हो चुका हूँ
क्रियाहीन आशय हूँ मैं तो अविशेषण
पिछला सब व्याकरण बदलकर
तोड दिये मैंने खुद भाषा के बन्धन

तुम जिससे परिचित थे व्यक्ति मैं नही वह
अब पहली सज्ञा से मत मुझे पुकारो ।

(19 11 82)

फिर वहीं से शुरू हम करें

कल जहाँ पर कहानी रुकी
फिर वहीं से शुरू हम करें।

अजुमन तो रही जागती
कहने वालों को नींद आ गयी
एक आँधी अचानक चली
ताश का महल बिखरा गयी

शामियाने सभी उड़ गये
टूट कर जा गिरी झालरें।

थम गया सुख आबे-रवाँ
जज्ब दरिया हुआ कीच में
आइना साफ धुंधला गया
जम गयी गर्द इस बीच में

बिजलियाँ जो गिरीं, बीन लें
मौत से और कब तक डरें ?

नोक सगीन की चुभ रही
जख्म हर-एक गहरा हुआ
ख्वाब की लाश ढोते हुए
बोझ से जिस्म दुहरा हुआ

कितनी पुरलुत्फ यह जिन्दगी
वक्त से पेशतर क्या मरे ?

हिल रहा एक है आशियां
अधजले ठूठ की शाख पर
फाख्ता एक दम तोडती
पत्तियो की जली राख पर

तोडकर फूल कुछ लाइये
आग पर पाव कैसे धरे ?

चद डूबी हुई धडकने
चद टूटी हुई पसलियाँ
आस्माँ मे दरारे पडी
ताकती दो फटी पुतलियाँ

हर तरफ इक वियाबान है
कैसे खाली जगह को भरे ?

(21 5 83)

बर्फ नहीं पिघलेगी

लगता अब—
धूप नहीं निकलेगी
जमी हुई
बर्फ नहीं पिघलेगी।

मौसम यह
धुरीहीन पहिये-सा
ठहरा है
साँसों में
भय कोई, उतर रहा
गहरा है

सूर्यमुखी
सपनों की यात्रा
किस अंधी
घाटी में फिसलेगी ?

कुहरायी
भीड़ों में, कल की वे
पहचानें
रिश्तों के
समतल पर उग आयीं
चट्टानें

युद्धों को तो—
बदल लिया है हमने
जाने कब
दुनिया यह बदलेगी ?

(21-5 83)

खामोशी चीखती

काधे पर
धनुष बाण धरे हुए
भील-सा

घाटी मे पडी हुई
सूरज की लाश को
अँधियारा नोच रहा
चील-सा ।

खामोशी चीखती सियार सी
लहरो पर डूबते सितार-सी
आँखो मे चुभता सुनसान
तेज जहर बुझी
कील-सा ।

मौन है हवाओ की पजनी
हर दरख्त पहने है सनसनी
पीला पीला तनहा चाँद
एक धुधली
कदील-सा ।

पुल के नीचे लेटी जो नदी
वह बूढे जलयानो से लदी
छूट गया पीछे वह देश
सोन-मछरी की
झील-सा ।

(22 5 83)

दहशत के घेरे

पीछे-पीछे चलते कुछ सवाल मेरे
जासूसी करते से उजेले-अँधेरे ।

जलती रहती है आँखो मे
टूटे तारो की
शहतीरें
पल-छिन चुभती है कानो मे
साँसो से जकडी
जजीरें

छाती पर तनी हुई खूनी सगीने
पाँवो से लिपटे है दहशत के घेरे ।

दूर वियाबानो मे आकर
ठिठकी सब
वन्ध्या यात्राएँ
रेतीले होठ पर सुलगती
वैशाखी
खुरदुरी हवाएँ
भेडियो-सियारो के बसे यहाँ टोले
कहाँ गये हिरनो, खरगोशो के फेरे ?

सच्चाई से नजर बचाकर
रेती के बीच मुँह
छिपाकर
लावे के ढेर पर खडा हूँ
मत्र-धुली चाँदनी
पहनकर
इस मगल कुमकुम वाले घट के किसने
बूटो से ठुकराकर, ठीकरे विखेरे ?

इजलास मे

मुद्दा है
आज की
वहस मे
वुलवुल क्यो कैद है, कफस मे ।

इस पर तोहमत यही लगी है
यह नीले फलक की सगी है ।

रेतीली
झील मे
नहाकर
खाती है वादल की कसमे ।

म भी इजलास मे खडा हूँ
धड तक मैं कीच मे गडा हूँ

मुझ पर
सव हँसते हैं
ऐमे
जोकर हूँ जैसे सरकस मे ।

वुलवुल क्या, मैं क्या, हम सव ही
ज़िन्दा है यहा वे-सवव ही

पिटी हुई
राह पर
न चलकर
तोडी थी हमने मत रस्मे ।

(16 7 83)

हंस-बलाक

दिखते जो दूध से धुले है
हस नही है वे, बगुले है।

पानी मे
एक पाँव के बल
खडे हुए
दम साधे पल-पल
गाहक वे नही मोतियो के
मछली को लीलने तुले हैं।

भक्तो जैसी
इनकी सूरत
गढती है
लोभ के मुहूरत
शाश्वत का मन्त्रजाप करते
क्षणवादी छद्‌म बुलबुले है।

रचते ये व्यूह
रोज छल के
चलते है—
पैंतरे बदल के
करके घुस-पैठ मानसर मे
लहरो मे ज़हर-से घुले है।

जो इनकी
बातो मे आया
मौत का पडा
उस पर साया
ये उतने गाँठदार भीतर
बाहर जितने खुले-खुले है।

(20-7 83)

कोशिश भी कर

रोता तू उम्र भर रहा
हँसने की कोशिश भी कर।

सिर पर जो लटकी तलवारें
उनको तो गिरना ही है
साहिल से भटकी कश्ती को
भँवरों में घिरना ही है
बस्ती ने है
तुझे उजाड़ा
चल कब्रिस्तानों में
बसने की कोशिश भी कर।

उड़ते हैं धुएँ के बवण्डर
खुशबू का मोल कौन आँकता
गर्दन पर चलती हैं आरियाँ
माना तू है चन्दन की लता
सहती जो—
शीश पर कुल्हाड़ा
इन विषधर नागों को
डँसने की कोशिश भी कर।

अनचीन्हे क्षितिजों की हद तक
लौट गये हंसों के जोड़े
फूलों की घाटी को रौंदने
दिग्विजयी श्यामकर्ण घोड़े
बजता है—
युद्ध का नगाड़ा
तू इनकी वल्गाएँ
कसने की कोशिश भी कर।

(19 12 83)

खिड़की खुली हुई रखते

क्यो हमने यो निर्णय लेकर बन्द कर लिये दरवाजे
अच्छा होता समझौते की खिडकी खुली हुई रखते।

जाने-अनजाने भी ऐसी स्थितियाँ पथ मे आती है
पीछे कदम हमे रखने पडते है, कुछ आगे बढकर
नदी किनारे पर रेती के सीपो जडे घरोदो को
ठुकरा देते है पैरो से, हम अपने हाथो गढकर
क्षितिज पार तक उड जाने के हम सकल्प किया करते
पीछे मुडने को न कभी हम पाखे खुली हुई रखते।

हम भी क्या सिरफिरी चीज है कोई हमको बतलाये
क्यो यथार्थ को पीठ दिखाकर जा उलझे आदर्शो मे
नही किसी लालच के आगे हमने अपनी जिद बेची
लडते-लडते टूट गये पर झुके नही सघर्षो मे
काया का क्या है, वह तो, सबकी ही मैली होती है
दुनियादारी की, बगुलो सी चादर धुली हुई रखते।

भटक रही किरनो की नौका कुहरे के पुल के नीचे
यह तटस्थता ले डूबेगी, हम धारा के साथ बहे
मौलिकता का राग अलापे यो कब तक वीराने मे
सबके स्वर मे अब अपना स्वर, मैय्यत को बारात कहे
होठो की मादक तृष्णा को व्यर्थ सुधा से सीचा है
गगा-जल मे हम थोडी-सी मदिरा घुली हुई रखते।

(19 12 83)

रहे महकते हम

अपने मन का कमल खिलाने के लिए
जीवन भर हम
खड़े रहे हैं कीच में।

आखिर उसमे
ऐसी भी क्या बात थी
हम दिन समझे
जब कि अँधेरी रात थी
रहे महकते हम
चन्दन के फूल से
जहरीले काले नागो के बीच मे।

मैखाने की
जादू कुछ ऐसी चली
बोतल को हम
कह बैठे गगाजली
जानबूझकर भ्रम को सच माना किये
सोनल हिरना
मिला नही मारीच मे।

गीत उन्ही के
रहे लरजते होठो पर
तम्बूरे मे
बजते थे जो कोठो पर
सबको गले
लगाया हमने प्यार से
कर पाये कब भेद ऊँच मे, नीच मे।

(22 12 83)

छोटी-सी आत्मकथा

कल के अपने सपने
ढह गये नदी मे।

महल नही थे पत्थर, मिट्टी के
खोखले घरोदे थे मिट्टी के
साज-बाज जो थे गाढे दिन के
दो बर्तन, खाली डिब्बे टिन के

काठ, कील, चिथडे सुख
बह गये नदी मे।

उलट गया आसमान सा छप्पर
हाथ से गिरा सूरज का खप्पर
जहाँ तहाँ जोगी से रमते दिन
मरघट की चुप्पी ओढे छिन-छिन

चीवर-मे सुबह शाम
तह गये नदी मे।

बादल, बिजली, बरखा, सुरधनु के
आँखो मे बिम्ब बचे हैं मनु के
कोई कामायनी नही आयी
अपनी ही थी धुधली परछायी

छोटी सी आत्मकथा
रह गये नदी मे।

(23-12-83)

हम रमते जोगी हैं

मोसम बेमोसम जो
दिखलाते त्योरियाँ
हम उन आकाशो पर सुरधनु बन छायेंगे।

जिनके अहसानो से
सिर ये झुक जाये
मन के सकल्पो का
पौरुष चुक जाये
रीती है खुद जिनके
कोष की तिजोरियाँ
हम उनकी ड्योढी पर माँगने न जायेंगे।

अपनी तो रही
सरफरोशो की पीढी
हर चलने वाले को
बनी जो कि सीढी
हमने तो चक्खी है
नीम की निबौरियाँ
आँधी मे गिरे हुए आम हम न खायेंगे।

धरती का फर्श
दिशाओ की दीवारे
बादल की छत है
चुप्पी की जयकारें

पूछ आये हम

पूछ आये हम
नदी की धार से
नाव कोई
आज तक आयी नही उस पार से।

इस किनारे
सिर्फ तपती रेत
भूख के
बजर उगाते खेत
सिवानो पर
काँपते वट गाछ दो बीमार से।

सुना है
उस ओर रचते मेह
फूल जैसी
शिलाओ की देह
हर दिशा है
गन्ध डूबी चादनी के भार से।

है यहा
सुनसान काली रात
दोपहर मे
धुध की बरसात
रीढ टूटी
शाम चिपकी सुबह की दीवार से।

उस किनारे
स्वप्न का ससार
धूप के सँग
रूप का व्यापार
छन्द झरते है
जहाँ हर साम की कचनार से।

(26 12 83)

रेती के मीन

कल तक तो हम भी थे आदमी
आज हम मशीन हो गये हैं।
कौडी के तीन हो गये है।

गाने को तो अब भी गाते हैं
जीवन के गीत नही, मसिये
आँगन, चौपाल से उठाकर
दूकानों पर सपने रख दिये

कल तक तो थे हम जन के कमल
रेती के मीन हो गये हैं।

दफनाकर भीतर की खामोशी
सडको की भीडो से आ मिले
होठो पर चिपकाकर नारे
जोडे हर-रोज नये सिलसिले

कल तक तो रिश्तो से थे बँधे
अब हम स्वाधीन हो गये हैं।

कस्बे की याद नही करते है
शहरो मे जबसे हम आ बसे
ऐसी केचुल हमने ओढी
अजनबी हुए अपने-आप से

कल तक हँसते थे हर बात पर
अब कुछ गमगीन हो गये है।

कम्प्यूटर बनकर हम जीते है
सवेदन मे रहकर अनछुए
हम अपने शून्य को समेटे
विस्तृत सीमान्ता के जन हुए

महाकाव्य की गरिमा छोडकर
सरकस के सीन हो गये हैं।

(18 I 84)

पेडो के सिर लहूलुहान

सागर के ऊपर से गुजर गया अभी-अभी
हहराता अन्धा तूफान
गिरे हुए पत्तो-से वहते है, ध्वस्त सभी
वूढे इस्पाती जलयान।

कानो मे वार-वार एक शब्द टकराता
ज्वार घिरा 'आम आदमी'
अन्तरिक्ष की नीली सरहद तक मँडराता
अर्थहीन शोर मातमी

उडते मस्तूलो के परखचे
यात्राओ के मिटे निशान।

सीका के तीर झरे वाँस की कमानो से
टूटे वव वज्र के कपाट
फेंक रहा अँधियारा वर्फ की ढलानो से
चट्टानी चुप्पियाँ सपाट

माथे पर चाँदनी कसे
पेडो के सिर लहुलुहान।

राख ढँकी चिनगारी-सा सुरग के नीचे
पसरा है घायल आक्रोश
लपटो मे घिरा हुआ झुलसी आखे मीचे
जसे हो गूगा खरगोश

वजती है पीपल की झाझ
मरघट-मे गाते सीवान।

कब तक यो घूमेगी पहिये से बिधी हुई
यह नाजुक एक पाखुरी
रक्तछन्द सिरजेगी पसली मे छिपी हुई
कब तक यो लौह की छुरी

वाढ की नदी लेटी है—
बालू पर आँककर उडान ।

दौड रहे लोहित रथ, अग्निमुखी सडको पर
जुते हुए अधे घोडे
असुरक्षित भीडे ये, लडती है प्राण-समर
पीठो पर सहती कोडे

झाग गिराती जमीन पर
हाफनी लिये हुए थकान ।

(26 1 84)

झाँक तो सही

यहाँ-वहाँ ताक क्या रहा
तू अपने दिल के आईने में झाँक तो सही।

दुनिया के शीशमहल के आगे
यों खड़ा न हो
औरों के कंधों पर चढ़कर तू
यों बड़ा न हो
आसमान छूने के स्वप्न रहा देख
पानी पर खींच रहा पगले तू रेख

रोकेंगी तुझको ये दीवारें
कर इनमें फांक तो सही।

लौट लिये लोग सभी सागर में
ज्वार आ रहा
तू अपनी डांगी पर बैठा क्या
गुनगुना रहा
सबने अपनी-अपनी खींच रखी मेड़
तेरी ही खेती में चरा रहे भेड़

उनकी फुलवारी में तू अपने
बैलों को हाँक तो सही।

मान्यता न मिलती है, खुद अपना
ढोल पीट तू
कवच ओढ़, सिर पर धारण करले
जय किरीट तू

सिंहासन पर विराज, छोड़ स्वप्न नीड़
देवता समझ तुझको पूजेगी भीड़

कागज़ का यह गुलाब, फटी हुई
अचकन में टाँक तो सही।

(26 1-84)

संगम हो तुम

इस शोभायात्रा मे
हम तो कन्धे भर हैं
परचम हो तुम।

तुम हमको सीढिया बनाकर
चढ जाओ ख्याति के शिखर पर

असफलता के युग मे
हर नयी सफलता के
उपक्रम हो तुम।

नीव तले के हम हैं पत्थर
रेत पर हवाओ के आखर

हम सूखी सरस्वती
गगा से यमुना के
सगम हो तुम।

दूर दूर उडते तुम बादर
हम तो है ठहरे रत्नाकर

हम आदिम तष्णाएँ
दूब की पँखुरियो पर
शबनम हो तुम।

(31-1-84)

बाँसुरी पुकारे

आजा रे
बाँसुरी पुकारे
कौन घाट बिलमे मछुआरे ?

कुहरे मे
भटकी
सब राहे
धुँधलायी
सीपो की
मोतिया निगाहे

सूरज का
दीप बुझा
सँवलाये कचपचिया तारे।

और घनी
हो गयी
उदासी
साँझ थकी
हिरनी-सी
प्यासी

हाँफ रही
सिंधु के
किनारे।
बाँसुरी पुकारे।

(14-2-84)

वक्त साँप-सा सरक गया

कहाँ गयी हंसो की पाँतें ?
    टेरते रहे
    सूखे
    पथराये ताल
    मुरझाये गन्धहीन
        कण्टकित
            मृणाल
ग्रीष्म के प्रहर आये
बीती वे वासन्ती रात।

    वक्त
    साँप-सा सरक गया
    यादों की छोड़ केंचुली
    पाँखों से उड़ गये सपन
    भोर हुए
    आँख जब खुली
    दुहराता सूने में मन
भूली बिसरी कल की बातें।

    मुट्ठी भर
    शेष रही
    उत्सव की धूल
    डूबे जलयानों के
    खण्ड खण्ड
    उखड़े मस्तूल
    आँधी में पाल उड़े
रेशम की फट गयी कनातें।

(14-2-84)

फूल फिर झरने लगे

फूल फिर
झरने लगे
सूखे करीलो से ।

फिर हवाएँ आदिवासी
छेडती मन की उदासी

धुधलका के
घाट उतरी
साझ टीला से ।

धूप की पगडी लपटे
जाल काँधो पर समेटे
चले मछुए
धरे बँहगी
ताल-झीलो से ।

पख सुग्गे फडफडाते
खख पीपल खडखडाते
धुआ उडता है
अलावो पर
पतीलो से ।

बाँसुरी सँग छिडा करमा
उगा आकाशे चनरमा
उठे मादल झाँझ
चुप्पी के
कबीला से ।

(17 2-84)

रथचक्र ऋतुओ के

थक गये फिर
घूमते रथचक्र
ऋतुओ के।

उड चले ये गन्धमादन के शिखर
आजुरी से फूल ज्यों जाते बिखर

चाँदनी मे
हिल रहे है गाछ
महुओ के।

रात दुहराती कथानक ज्वार के
घाट के सँग नदी के अभिसार के

चुप्पियो से
झर रहे है राग
मछुओ के।

नेह भरकर जुगनुओ के दीप मे
जोत हँसती है कजलती सीप मे

सिवानो पर
जागते फिर स्वर
पहरुओ के।

पख फैलाये विलम्बित बाँस वन
कर रहे कुन्तल हवा का आचमन

छन्द काया
रच रही है रूप
वधुओ के।

(19 2-84)

काँप रहा काँच-महल

आँधी में
काँप रहा
काँच का महल।

लोग चमकदार खिड़कियों से
ताक रहे लोगों को बाहर
आँखों में खौफ, बदहवासी
हाथों में ताने हैं पत्थर

मन-ही-मन
बस्ती का
दिल रहा दहल।

आँतों से खून रिस रहा है
पसली में फँसा तेज चाकू
मंत्र, श्लोक, वाणी के नारे
दुहराते शहर में हलाकू

सड़कों पर
सन्नाटा
है रहा टहल।

संगीन आग उगलती है
यहाँ-वहाँ उठ रहे धमाके
आसमान बाज सा झपटता
गौरैया सी धरती काँपे

कर्फ्यू है
कौन करे
अम्न की पहल।

(22-2-84)

झर रहे हिमखण्ड

रात मीलो-सरीखी
दिन हुए
दो गज के।

चल रहे
ठण्डी हवा के
तेज आरे

बुरादो-मे
झर रहे
हिम खण्ड सारे

कोहरे ने
काट डाले पख
सूरज के।

समय की
कुण्ठित धुरी पर
रुक गये रतनार पहिये

पठारो पर
धुध आके
व्रजनी सँतिये।

हिनहिनाते
सात घोडे
धूपिया रथ के।

(23 2-84)

गलियों मे खामोशी

गलिया म खामाशो
मन मे कोलाहल है।

खेत हो गये छोटे
चौडी दिखती मेडें
आगे एक भेडिया
पीछे सौ सौ भेडें
ढोल, मृदग, मँजीरे
चिमटे, शख, बाँसुरी
मौन हो गये
मुखर हुए बन्दूक, बम, छुरी

पूजा घर मे
कत्लगाह की चहल पहल है।

हम नही
मानस मे तैर रहे बगुले है
कीचड सने
खून से उनके पख धुले हैं
झुलस रहा कोई
गुलाब हो जसे ल मे
माच-पास्ट करती
सगीनें सडको घूमे

सूरज की किरणो मे
बरस रहा काजल है।

(23-2-84)

कल जब तुम आओगे

कल जब तुम आओगे
मेरा प्रतिरूप देख उससे घबराओगे
आसन पर और किसी को बैठा पाओगे।
कल जब तुम आओगे।

भीड तो यही होगी
मालाएँ लिये हाथ
स्वस्तिमन्त्र, जय निनाद
लोगो के साथ-साथ

महफिल मे, गद्गद हो तुम भी दुहराओगे
यो अपनी करनी पर, तिलभर पछताओगे।

तुमको जिद थी मेरा
जीते जी होठो पर
नाम तक नही लोगे
मेरे आलोचक-वर

पर अब सबसे ज्यादा आँसू बरसाओगे
शोक-सभा मे मुझसे रिश्ते बैठाओगे।

साथ तुम जिये मेरे
आगन से, पनघट-से
मदिरा के प्याले मे
झागो-से, तलछट-मे

अब मेरी चर्चा से मान भी कमाओगे
सागर से उठकर तुम नभ-मे हो जाओगे।

तुमने फ़र्क़ भेद किया
शत्रु और मित्र म
राम का रमा मापा
रावण के चित्रा म

फिर कभी उगू न, ताकि-गहरा दफनाओगे
या अमृत-फूला-सा मुझको निखराओगे।

(27-2 84)

जब तक मै लौट कर नही आऊँ

जव तक मैं लौट कर नही आऊँ
लोगो की नजरो तुम वन जाना अपरिहार्य।

जहाँ-जहा नाम हो लिखा मेरा
कटवा देना उसे
जहाँ कही मूर्त्ति हो लगी मेरी
हटवा देना उसे

भेडो-सी भीडो को—हो जाना शिरोधार्य।

कौन किसे याद यहाँ रख पाया
सवको अपनी पडी
मुझको भी लोग भूल जायेंगे
आयेगी वह घडी

कल के सन्दभ। तुम हो जाना दुर्निवार्य।

सोने के अको मे तुमको मै
देखू हर पथ पर
आऊँ तव नाम तुम्हारा पाऊँ
अपने हर ग्रन्थ पर

कर्त्ता तुम वन जाना ओ मेरे अकृतकार्य।

कुहरे मे भेद कहाँ रह पाता
सत्य और भ्रान्ति मे
मोती जैसा दिपता हर रज कण
सीपी की कान्ति मे

मेरे हिमगिरि गलकर वह जायें अप्रसार्य।

(२५-२ ५१)

फागुनी अबीर हो गया मन

सूरज ने
कलियो पर मारी
सात रग वाली पिचकारी।

दखिन पवन के मादक झाके
हौले से नीद मे मसल गये
फिर क्वारी कदली की देह

उमगी कचनारो की कचुकी
लिख गयी पलाशो की बाह पर
नोकदार गुनगुना सनेह

साँस सास
गेदे की महकी
बेला की आख मे खुमारी।

मौसम ने जादू सा कर दिया
नस-नस मे सम्मोहन भर दिया
अमृत का घट हुआ शराब

फागुनी अबीर हो गया मन
चुप्पी का तार तार बज उठा
छूकर उँगली की मिजराब

आये तुम
मजरित हुई फिर
सपनो की सेज-अटारी।

(17-3 84)

बीत गये दिन वे

रीत गये रँगभरे भगौने
बीत गये दिन वे मिठलौने।

यहाँ-वहाँ
ठहरी पद चापें
कन्दीलें
पानी पर कापें

यादो के आँगन म
बजते कुछ काठ के खिलौने।

छूटी
पथरीली पगडण्डिया
उडती है
फटी हुई झडिया

पेडो के माथे पर
चिपके हैं धूप के दिठौने।

रेती पर
तैरती मछलियाँ
झाडो मे
उलझी दो तितलियाँ

बँसवाडी तक आये
लपटा को पहने मृगछौने।

(17 3 84)

सोन आखर धूप मे

गुलमोहर की छाँह मे लेटी हुई
फिर नदी के पाँव मे छाले पड ।

ओस के कन
किरन चिडिया ने
चुगे
अगिन-पखी हस
रेती मे
उगे

नीद मे गाफिल हुई अमराइयाँ
हवाओ के होठ पर ताले पडे ।

थकन सापिन सी
डगर को
सूघती
वासुरी की टेर
वन मे
ऊँघती

हर इरादा दोपहर का खण्डहर
हर दरो दीवार पर जाले पडे ।

शिलाओ पर
सपन
झरनो ने लिखे
रह गये
सुनसान मे सब
अनदिखे

अमलतासो की टहनियो पर टँगे
सोन आखर धूप मे काल पडे ।

(1-4-84)

गूँजने का सिलसिला

कल कहा मुझसे अचानक, शाम ने
शोर का भी एक अपना छन्द होता है।

नदी है
चाहे जहाँ से
मोड दो
रेत पर बहने
अकेला
छोड दो

धूल-झरते फूल मे मकरन्द होता है।

भीडवाले
मच पर
सुनसान मे
बजा करता
चुप्पियो के
कान मे

गूजने का सिलसिला कब बन्द होता है।

पत्तियो की
थरथराहट मे
यहाँ
माघ फागुन की
महावट मे
वहाँ

कभी थोडा तेज, थोडा मन्द होता है
शोर का भी एक अपना छन्द होता है।

(10 4 84)

रहता है तू उडा-उडा

खुद से रहता फटा कटा
जब मे तू भीड से जुडा।
आसमान मे पतग-सा
रहता है तू उडा उडा।

कीचड मे सना हुआ तू
बुनता है सपने आकाश के
आधी के काधो बैठा
फेटा करता पत्ते ताश के

खूटी मे बँधा हुआ भी
चलता ज्यो रस्सिया तुडा।

आकता निशान रेत पर
धुरीहीन पहिये-सा राह मे
सच को तू खोजता हुआ
खो जाता जिस तिस अफवाह मे

आगे दिन रात दौडता
पीछे कब एक पल मुडा।

क्यो अपनी नीव से उखड
ढोता औरो की दीवार को
करता सबकी जय जयकार
गदन मे लटकाकर हार को

लादे तू पीठ पर रहा
विन्ध्याचल और सतपुडा।

घर से थे जो सुबह चले
मंजिल पर जा पहुँचे शाम तक
सोता तू जेब ही रहा
भुना चुके वे तेरा नाम तक

पथ पर तू था जिनके संग
मेले में उनसे बिछुड़ा।

(17 5 84)

धुँधले है रगमंच

धुँधले हैं रगमच
नीले नेपथ्य के बिना।

कब तक सवादा को
और यो तराश
रेती म दवी हुई
नदी को तलाशे

शिल्प बोझ बन बैठा
भाषा पर, कथ्य के बिना।

अधा है हर सपना
आँख के अभाव मे
तार-तार टूट रहा
दद से, तनाव मे

सत्य मूत्त होगा कब
रचना मे तथ्य के बिना ?

सारी रथयात्राएँ
रुकी हुई बीच मे
मरुतपख सोनचक्र
धँसे हुए कीच मे

है रथी उदास बहुत
रथ मे सारथ्य के बिना।

(27-5-84)

दूब को झुलसने दो

दूध धुले पखो से नापो तुम आसमान
हम जलती धरती पर चल लेगे पाँव-पाव।

तुमने जो गमले मे रोपा है
यह गुलाब
इस की हर टहनी पर सोन वरन
खिले फूल
हम जिस पगडडी पर तनहा वढते जाते
सास साम मे उसकी दहके महके ववूल

महानगर की शामें घोलो तुम कॉफी मे
दोपहरी भर हमको मिले नही कही छाव।

हम भी ला सकते थे जाकर
बाजारो मे
तुम खरीद लाये जो ये सुख
सुविधाएँ
अश्वमेध कैसे यह पूरा तुम कर पाते
हम अगर नही बनते वेदी की समिधाएँ

झाडी मे हिरने यदि सो नही गये होते
मजिल का जीत नही पाते खरगोश दाँव।

चाहे तो ताजमहल हम भी
गढ सकते है
ला वारिस सपनो को दफनाकर
खोली मे
भीख मे मिले मणिमय राजमुकुट पहनो तुम
ककड पत्थर हम तो भरे हुए झोली मे

नदियो के पानी से भर लो तुम रीते घट
दूब को झुलसने दो रेती पर ठाँव-ठाँव।

(27-5-84)

साँझ सोयी

साँझ सोयी
धर हथेली
फिर गुलाबी गाल पर
चाँदनी लिपटा
हरा कुहरा
उतरता ताल पर।

कोहबर मे
चूडियाँ खनकी
इशारो से हो उठी फिर
संधि तन मन की

रात आयी
चाद का टीका लगाये
भाल पर।

क्षीर सागर सा उमडता
कास वन
हम अकेलापन बुनेगे
फिर सुबह तक, आदतन

मरी मछली सी
तडपती नीद
सूखे जाल पर।

दस्तके देती हवा भी
गुम हुई
खुली पलको मे
प्रतीक्षा की कथा गुमसुम हुई

भोर पाखी
खोलता
अपराजिता की डाल पर।

(14 7 84)

सूरज तो सूरज है

दिन मे चमगादड को
    सूझता नही
सूरज तो सूरज है
    उसकी कोई खता नही।

सागर की
    नील कुहा मे
पर्वत की
    अन्ध गुहा मे

स्वर्णाकित अपनी यात्राएँ
सूरज को खुद पता नही।

उगता वह
    शून्य अन्तराल मे
जड उसकी
    गहरे पाताल मे

कुण्ठित है कुहरे की आरिया
वह अक्षय-वट, लता नही।

पालो तुम
    खद्योतो को
ज्वारो के
    जलपोता को

वह स्वय प्रकाश-पुञ्ज है
मागेगा मान्यता नही।

(13 9-84)

वसीयत

जो भी है पास हमारे
सब-कुछ है नाम तुम्हारे।

थी मिली विरासत मे यह फाकामस्ती
जिन्दगी बडी महँगी और मौत सस्ती
फूलो की सरहद पर पत्थर की बस्ती
कन्धो पर ढोने को काच की गिरस्ती

आते-जाते पथ पर
सग-सहारे
बुध और धूप सगे
साझ सकारे।

लुज पुज हाथो की मेहनत—बेकारी
लाइलाज आतो की रिसती बीमारी
बेगैरत सासो की छूछी खुद्दारी
झूठी हमदर्दी मे लिपटी लाचारी

टूटे-फूटे धुँधले
चाद सितारे
रत के समुन्दर के
कूल-कगारे

दूब, दही, गोरोचन, अक्षत, घृत, तुलसी
मन्त्रवती-परम्परा बैसन्दर झुलसी
रात के अँधेरे म बाढ घिरे पुल सी
मरी हुई नागिन की जीवित केचुल-सी

दादी के आचर के
दाख छुहारे
दादा की पगडी के
सेंद-कतारे।

(16-9 84)

रामकली

आखो मे ख्वाब थे गुलाबो के
ख्वाबो मे पर थे सुर्खाबो के
उडी-उडी
फिरती थी
सोनपरी रामकली।

हर लब पर उसके ही अफसाने
एक शमा के सौ सौ परवाने
अपनी ही
मस्ती मे
भरी-भरी रामकली।

कुछ दिन से दिखती अब गुमसुम-सी
हल्दी सी, मेहदी सी, कुमकुम सी
उपलो की
राख हुई
कनक छरी रामकली।

बन्द हुए घर के खिडकी, द्वारे
पहरे ह अगवारे पिछवारे
जाल बँधी
हिरनी-सी
डरी डरी रामकली।

बरसो बीते, कोई वर न मिला
राम ! कली पत्थर की हुई शिला
सावन मे
रीती जल की
गगरी रामकली।

रात दिवस सुनती सबके ताने
जनमी किस अशुभ घडी मे जाने
आखिर कल
छत पर से
कूद मरी रामकली।

(30 9 84)

कविता है बेमानी

कुछ ऐसी बात कहे
    सुनकर सब चौंक
मचो पर चीखे, या
    भीडो पर भौंके ।

शब्दो के तकिये पर हौले से सिर धरकर
नापे हम
अर्थों के सूने आकाश को
धूप खिले तालो मे मछली से दिन फिसले
और और
फैलाएँ कुहरे के पाश को

भाषा का ईंधन है
    कितना सीला सीला
गीतो के फूलो को
    भट्ठी मे झौंके ।

कोयल जब गा-गाकर चुप्पी मे लौट गयी
आतो को
समझाया थकी-थकी शाम ने
सरसो के फूलो से पेट नही भरता है
कविता है
बेमानी रोटी के सामने

हाथो को पहनायें
छदो के दस्ताने
    समय की कढाई मे
सपनो को छौंके ।

(17 10 84)

चिड़िया जो गाती है

चिडिया जा
गाती है
दिन भर आकाश तले
उड जाती
किस अनाम
जगल मे साझ ढले।

सांवले दरख्तो की
हिलती रह जाती हैं

पूरी की-पूरी
वनखण्डो मे
धारदार
चुप्पियाँ

जहा-तहा घाटी मे
जल उठती जुगनू-सी

मटमैली धूसर
पगडण्डी पर
निंदियाती
कुप्पिया

आसमान
भर जाता
तारो की लिपियो से
छपते
कितने प्रसग
मन पर अगले पिछले।

(15 10 84)

चुप्पियों की पैंजनी

खींच लो पर्दे
चढ़ा दो किवाड़ों की
सिटकनी।

जुगनुओं-सी बज उठीं फिर पहरुओं की सीटियाँ
खुली खिड़की भी नहीं कोई कहीं रह जाय
क्या पता सारा अचर कोई यहाँ घुस आय
गली में बाहर
हवाएँ गश्त करतीं
कटखनी।

धूप की नावें न जाने कहाँ डूबीं ज्वार में
हरेपन का उमड़ता यह आक्षितिज-विस्तार
धुंध को पहना रहा है तिलिस्मी आकार
नीम गाछों पर टँगी
दम तोड़ती-सी
सनसनी।

एक परछाँई अदेखे हाथ की हिलती रही
चित्रपट पर पड़े औंधे विविधवर्णी पात्र
स्याह रँग में घुल रहा कर्पूर रेखामात्र
चौखटे में काँपती
तस्वीर कोई
अधबनी।

सोन पंखी साँझ चिड़िया तमालों की छाँह में
भूमि से आकाश तक बुनने लगी छतनार
गन्दुमी सरगोशियों को हाशियों के पार
नदी-तीरे झनझनाती
चुप्पियों की
पैंजनी।

(19.10.84)

छींटे

मरे कुत्ते की खजैली टाँग-जैसी
जिन्दगी को और कितने दिन घसीटे ?

जिस नयेपन पर
रहे हम वहस करते
हो चुका वह तो पुराना
आज जो आदर्श सिरजे है
उन्हे कल
भूल जायेगा जमाना

खाल हो जिस पर चढी मुर्दा हिरन की
नयेपन का कव तलक वह ढोल पीटे ?

काल के नि शब्द
पहिये पर चढे जो
कल समय के शख वनकर
नाप पाये क्र
गगन की नीलिमा को
आज टूटे पख तनकर

वे विजय के स्तम्भ कितने गाढ पाये
हाथ मे जिनके रही दो-चार ईंटे ?

हम खडे इस क्षण
जहा जिस मोड पर है
और भी आये यहा तक
पूव की आवत्ति है
हर एक प्रतिभा
जान पाये हम जहाँ तक

कक्न्नी फका किये जिस तान मे हम
गिर रही उसकी हमी पर चन्द छींटे ?

(20 10 84)

जागते रहो

मरघट मे रागते रहो ।
गलियो मे
घूम रहा
आदमकद
खौफनाक सन्नाटा
रात के अँधेरे मे
जागते रहो ।

छिप छिपकर
दबे पाँव
दम साधे
पीछा करता कोई
परो को सिर पर रख
भागते रहो ।

दूर तलक
नोकदार
चुप्पी की
चट्टानी छाती पर
आवाजो की गोली
दागते रहो ।

(3 11 84)

चुप है सब

दिन मे ही घनी हुई
रात की अँधेरी
गलियो मे घुस आये
लुटेरे, अहेरी।

हाथो मे लाठी है, चाकू हैं, भाले है
चेहरे पर मजहब का ये नकाब डाले है
सच है यह, वहम नही
इनमे है रहम नही
काटेंगे गदन ये—
मेरी या तेरी।

रानी का कत्ल हुआ, शोकमग्न राजा है
महल मे हिफाजत का टूटा दरवाजा है
जली हुई चौखट है
चौवारे, मरघट है
पलभर मे शहर हुआ
मलवे की ढेरी।

बेगुनाह लाशो से अटी-पटी राहे है
खबरो की शैली मे फैली अफवाहे है
आसमान धुआ-धुआ
धरती है अन्ध कुआ
चुप ह सब रखवाले
भूलकर दिलेरी।

हर सपना डूबा है चीख और आसू मे
भूक रहे श्वान, साँड झूम रहे कर्फ्यू मे
सासो मे दहशत है
नाच रही वहशत है
सेना के आने मे
लगी बहुत देरी।

(17 11 84)

चुटकी भर रोली

कोयल के बोलो की
इतनी भर
बोली
अँजुरी भर
फूल-अखत
चुटकी भर रोली।

फूल जो कि मुरझाये
अक्षत सब फैले
रोली के स्वस्ति-तिलक
हो गये धुमैले

उत्सव ने
पूजा से
खूब की ठिठोली।

साँसो तक विंध हुए
अनुभव के काँटे
अश्रु या चुभन आये
बस उसके बाँटे

लौट गयी
जनपथ से
मौसम की डोली।

बिखरे है गीतो के
रक्त-सने डैने
अन्धकार हँसता है
दांत लिये पैने

चील और
कौवे है
अब तो हमजोली।

(21-11 84)

फिसादो के मौसम

जी रहे हम इन दिना
मौसम फिसादो के।

फिजाआ मे
तैरती
खामोश अफनाहे
अँधेरो मे
गुम हुई
दहशतजदा राहे

जल रहे घर आग मे
कागज बुरादो के।

काँपती है
हवाओ मे
टहनियाँ नगी
धुएँ का आकाश
बुनती
धूप पँचरगी

सत्य खोया है कही
पीछे लवादो के।

सह रहा है
आदमी चुप
वक्त की चोटे
चाल शतरजी
बिछी हैं
काठ की गोटे

पिट रहे हाथी यहा
हाथो पियादो के।

(22-11 84)

राख हुआ रेशमी शहर

आसमान तक उठा धुआँ
राख हुआ रेशमी शहर।

होठो पर
नफरत के बोल
आखो मे
उबल रहा खून
दौड रहे सडको पर पाँव
हाथो मे लेकर कानून

कातिल पीछे लगे हुए
चौराहे पर न तू ठहर।

भडक रही
मजहब की आग
घूम रहे
खजर तलवार
लपटो मे जल रही किताब
सुलग रहे गलिया, बाजार

कल तक सब ठीक ठाक था
आज कौन ढा गया कहर।

लावे की
नदी उठी खौल
दहक रहे
नावो के पाल
अँधियारा करता है कत्ल
उजियारा पूछ रहा हाल

लाशो के ढेर पडे है
घर लगते भुतहा खण्डहर।

(10-12 84)

छूकर यो कोण से

छूकर यो चीजो को कोण से
पूरा सच जो रहे तलाश
बैठकर हवाओ के सेतु पर
कुहरे पर लिख रहे प्रकाश।

रचना के मचो पर बिछा दिया
लोगो ने सम्मोहक जाल
जनता की आखो के पानी मे
गला रहे वे अपनी दाल

महलो के ख्वाब दिखा जादुई
आधी मे फेंट रहे ताश।

सच है तू आँक नही पायेगा
इन्द्रधनुष, तितली के पख
औरो के होठो या कण्ठो का
तू न बना वशी या शख

प्रामाणिकता भर तू अथ मे
मत केवल शब्द को तराश।

माना यह, पास नही तेरे है
उनकी सी वैज्ञानिक दृष्टि
मरुथल मे व्यथ नही जायेगी
तेरी भी अमृत रस वृष्टि

धरती से बँधने की फिर चर
फैला मत नभ मे भुजपाश।

(22 12 84)

पुनरावृत्ति

मकतल वही
वही फंदे हैं
बदल गये जल्लाद
सब कुछ वैसे का वैसा है
पाँच बरस के बाद।

चुप्पी है, बंद सितार है, मिजरावें हैं
उखड़ दरवाजे हैं, गिरती मेहरावें हैं
ढहती दीवारों से झरते हुए पलस्तर
आँगन में उदास बतियाते टीन कनस्तर

मकतब वही
वही तालिब हैं
बदल गये उस्ताद।

बढ़ते जाते उनके खूनी पंजे पैने
सहमे-सहमे-से लगते चिड़ियों के डैने
दहशत भरे हुए जंगल में भूखी भेड़ें
जाने किसके चाकू उनकी खाल उधेड़ें

गर्दन वही
वही शमशीरें
बदल गये सय्याद।

डायलिसिस पर रखे हुए कुछ जीवित मुर्दे
धीमी साँसें, फटे फेफड़े, गलते गुर्दे
बुझी हुई पलकों में पंख मारते सपने
आजादी की खाक छानते पैदल सपने

नायक वही
वही निर्देशक
बदल गये संवाद।

(12 12 84)

एक और शुरूआत

एक शुरूआत करे
और हम नयी ।

पिछली तसवीरो के
रग धुल गये
कच्चे पक्के सारे
भेद खुल गये

बूढी दीवारो की
रेत झर गयी ।

नये माल मे उगा
नया विहान है
इस नये समाज का
नया विधान है

फिर हुआ पुरानन पर
नूतन विजयी ।

गूजी सन्नाटे मे
प्राण——— वासुरी
खिल उठी अँधेरे मे
ज्योति — पाँखुरी

सूरज से हार गया
चद्रमा क्षयी ।

(29-12 84)

आँधी मे पेड

वडे वडे पेड सभी
आँधी मे
उखड गये।

हरी दूब की फौजे
सिर ताने खडी रही
वट, पीपल की लाशे
कुहरो मे पडी रही

कोट, किले, शिविर, व्यूह
विप्लव मे
उजड गये।

पार लगी नौकाएँ
डूबे सब सार्थवाह
टूटे मस्तूलो के
जल-पाखी हैं गवाह

नायक जय-यात्रा के
ज्वारो मे
बिछुड गये।

क्रान्ति-पर्व आने पर
ऐसा ही होता है
वर्फ मे भडक उठता
गन्धक का सोता है

झूठ हुए समझौते
तालमेल
बिगड गये।

(5-1 85)

दहशत की खूँटी पर

लाठी, सगीन, गैस,
ब-दूके, सीटी है
पहरे है ।

दहशत की खूटी पर
कपडो से टँगे हुए
चेहरे है ।

आसमान को ओढे चीलो के डैने है
कानूनी किरिचो के दात बहुत पैने है

ऊँची दीवारे है
गिरने को अ-ध कुएँ
गहरे है ।

जिन्दगी यहा मँहगी, मौत भी न सस्ती है
यह तो विकलागो की घुन खायी बस्ती है

लूले, लँगडे, कुवडे
लोग यहा गूगे है
वहरे है।

कह सकता कौन यहा कल सूरज निकले ही
फूलो से गध झरे, और वफ पिघले ही

आप किस मुहूरत मे
आये है, और यहाँ
ठहरे हैं ?

(13-3 85)

खिड़की खुली रहने दो

चाहो तो वन्द रखो रिश्तो के दरवाजे
वातचीत की खिडकी
खुली हुई रहने दो।

तुमने जो, कहना था
सब कुछ तो कह डाला
हमने भी खोल दिया
होठो पर का ताला
हमे आत्मरक्षा मे
कुछ भी तो कहने दो।

आखिर तो सयम की
भी सीमा होती है
सीपी के वन्धन को
ठुकराता मोती है
पवत के घेरो से
झरना को वहने दो।

जलते अगारो पर
कब तलक खडे होकर
फूलो की वात करे
दर्द मे वडे होकर
हम पर जो कुछ वीते
एकाकी सहने दो।

कुर्सी की आखो मे
खटके जो वागी हैं
तुमने भी उन पर ही
वन्दूकें दागी हैं
उन सब मजलूमा की
वाँह हमे गहने दो।

(20-3 85)

डूब गयी आलापें

डूब गयी वन मे आलापे
किससे अब चुप्पी को नापे ?

वे सब जो साथ साथ चलते हे
अर्से तक राह की सफर मे
जाने किन अनदेखी, अनजानी भीडो मे

सहसा ही कही बिछुट जाते हैं
भटकी रह जाती है
हर धडकन, सासो मे
उनकी पदचापे ।

मगल क्षण हाथ से फिसलते हे
सन्ध्या की बैजनी डगर मे
कुहराये पवत के देवदारु, चीडो मे

पाखी—दिन नभ मे उड जाते है
लटकी रह जाती है
मडप के बासो मे
हरदी की छापें ।

उत्सव के हिम शिखर पिघलते हे
धुवभरी रात के पहर मे
निदियाते सपनो के पखदार नीडो मे

बियावान मरु मे मुड जाते है
अटकी रह जाती है
बसी की फाँसो मे
मादन की थापे ।

(13 3 85)

बौर आये

बिन बुलाये
अनमनी अमराइयो की
टहनियो पर बौर आये।

पत्तियो की कोख से
सरगम उगी
एक मादक गन्ध
फूलो ने चुगी

साँझ बिरिया
किस सुहागिन मधुमती ने
दीप लहरो पर बहाये।

इन्द्रधनु से रग लेकर
तितलिया
आकती है धडकनो मे
बिजलिया

पुतलिया मे
दृश्य अमृत-निझरी के
रातभर छककर नहाय।

फगुनहट की रेत मे
केसर घुली
चुप्पियो की गाठ फिर
बरबस खुली

कोहबर मे
राग रजित स्वप्न शिजित
वलय नूपुर झनझनाये।

(31-3 85)

पहचान

अब तक हम इतनी पहचान बना पाये
जैसे हो रेती पर बादल के साये।

यारो ने मिल जुल कर
खींची दीवारे
दीवारो के भीतर
ऊँची मीनारे

मीनारो पर चढ कर वे अजान देते
उन के आदेश यहा सब ने दुहराये।

जिन को चाह उन पर
मुहर लगा देते
बाकी का ख्वाबो मे
नाम तक न लेते

चाहो तो तुम भी अब उन के हो जाओ
है उन के मानदण्ड उन्ही के बनाये।

वीराने मे हमने
मौन गुनगुनाया
लपटा म कागज का
एक पुल बनाया

बिजली के तारा पर घोसला सजाने मे
थकी थकी चिडया ज्यो चिपकी रह जाये।

(2 4 85)

डूब गयी साँझ-तरी

अन बरसी
फागुनी घटा सी
आँखो मे तैर रही
उत्सव के बाद की उदासी।

सन्नाटा
चीख रहा
काँसो के वन मे

धुँधलाये
सूर्य बिम्ब
दिन के दरपन मे

तट पर सिर धुनती है
एक लहर प्यासी।

खोहो मे
जा लेटी
धुँधली आवाजे

लपटो मे
भरी हुई
धुएँ की दराजें

डूब गयी साझ-तरी
अनसुनी कथा-सी।

(2 4 85)

भँवरो मे नाव

डूब रही भँवरो मे नाव
धारा का तेज है बहाव।

घिसी हुई
लगी है
घुन खाये पाल

झुके हुए
मस्तूलो के
ऊँचे भाल

मन ही-मन जीते हैं एक
मछुहारे अनदिखा तनाव।

पानी ही-पानी
बहता है
सब ओर

काँप रहा मन
सुनकर
लहरो का शोर

साथ साथ बुनती हर सास
जीने औ' मरने के भाव।

सोन मछेरी ने
फैलाया यह
जाल

काम नहीं आयी कुछ
बंसी की
चाल

छूट गये पीछे वे घाट
टिके जहां सारे भटकाव।

(2-4-85)

रात की छिपकली ने

रात की छिपकली ने मुँह अपना फैलाकर
साबुत-का साबुत दिन निगला है।

माना यह शोहरत का एक नशा होता है
उसमे भी अधिक मजा आता गुमनामी म
दिन म जो खर्राटे लेते वे क्या जाने
कितना सुख मिलता सपनो की नीलामी म

शबनम के कतरे जैसा मोती बालू पर
कदली के पातो से फिसला है।

कल तक जो आसमान छूते थे देवदारु
जड मे अपनी कट कर, पडे हुए धरती पर
दूब जो कि पाव तले रौंदी हर यात्रा ने
तारो से बतियाती विजय पताका बन कर

पर्वत की बाँहो मे बँधा हुआ झरना कब
घाटी का रूप देख पिघला है?

मेघो की सेज बिछा बिजली जब सो जाती
कुहराता जुगनू की पलको मे सपना है
धूप का नही होता दीपशिखा से नाता
अँधियारे ने देखा दीप का तडपना है

निर्वासन की सीमा पूरी जब हो जाती
सूर्य तभी कुहरे से निकला है।

(4 4 85)

□□



नाम देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

जन्म स्थान आगरा जनपद का एक गाँव ।

आयु 55 वर्ष

ाशित काव्य कृतियाँ गीत संग्रह—1 'पथरील शोर

2 'पखकटी महराब', 3 'कुहरे

प्रत्यंचा', 4 'दिन पाटलिपुत्र हुए',

'चुप्पियों की पैंजनी ।'

खण्डकाव्य—6 'कालजयी'

सम्पादित—7 'यात्रा मे साथ-साथ'

सम्पर्क वरिष्ठ प्राध्यापक हिन्दी विभाग

श्यामलाल कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्या

शाहदरा, दिल्ली 110032